

जैन दर्शन में कर्मवाद

—डॉ. सोहनराज तातेड़

जैन एवं अन्य दर्शनों में कर्म की परिभाषा

भारत एक धर्म प्रधान देश है। यहां सभी आस्तिक दर्शनों और धर्मों ने कर्म या इसके समान एक ऐसी सत्ता को स्वीकार किया है जो आत्मा की विभिन्न शक्तियों को, गुणों को या शुद्धता को प्रभावित, आवृत एवं कुंठित कर देती है। कर्म के स्थान पर उन धर्म दर्शनों ने उसके विभिन्न नाम दिए हैं :-

वेदान्त दर्शन ने उसे माया या अविद्या¹ कहा है। सांख्य दर्शन ने इसे प्रकृति या संस्कार की संज्ञा दी है।² योग दर्शन में उसके लिए कर्म-आशय या क्लेश आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।³ न्याय दर्शन के 'अदृष्ट' और संस्कार शब्द भी इसी कर्म के द्योतक हैं।⁴ बौद्ध दर्शन में कर्म को 'वासना' और 'अविज्ञप्ति' कहा है।⁵ वैशेषिक दर्शन में प्रयुक्त धर्माधर्म शब्द भी जैन दर्शन के कर्म का समानार्थक है।⁶ शैव दर्शन में 'पाश' शब्द भी जैन दर्शन का पर्यायवाची है।

मीमांसा दर्शन का 'अपूर्व' शब्द भी कर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।⁷ दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि अनेक ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग सामान्य रूप से सभी ग्रन्थों में हुआ है। जैनागमों में कर्म के साथ कर्ममल, कर्मरज आदि शब्दों का भी प्रयोग मिलता है।⁸

ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर 'कर्म' का अर्थ है, धार्मिक कृत्य(यज्ञ, ज्ञान आदि)। देव उस व्यक्ति कवि के सभी कर्मों को स्वीकार करते या चाहते हैं जो उनकी स्तुति करता है(उनकी वंदना करता है)।⁹ वैदिक परम्परा में वेदों से लेकर ब्राह्मण ग्रन्थों तक यज्ञ-याग आदि नित-नैमित्तिक क्रियाओं को कर्म कहा गया है।¹⁰ स्मार्त विद्वानों ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र इन चार वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास इन चार आश्रमों के लिए विहित कर्तव्यों एवं मर्यादाओं के पालन करने को कर्म कहा है।¹¹ श्रीमद् भगवद्गीता में फलाकांक्षारहित होकर अनासक्त भाव से या समर्पण भाव से कृत कर्म या सहज कर्म, ज्ञान युक्त कर्म, कर्म कौशल आदि सभी प्रकार के क्रिया व्यापारों के व्यापक अर्थ में कर्म शब्द प्रयुक्त हुआ है।¹² प्रसिद्ध जैनाचार्य देवेन्द्रसुरि¹³ कर्म की परिभाषा करते हुए लिखते हैं—“जीव की क्रिया का जो हेतु है वह कर्म है।” प्रसिद्ध जैन विद्वान पंडित सुखलालजी के अनुसार¹⁴ जब प्राणी अपने मन, वचन, काया से किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति करता है, तब चारों ओर से कर्म योग्य पुद्गल-परमाणुओं का आर्कषण होता है। मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो कुछ किया जाता है, वही कर्म कहलाता है। आत्मा की राग-द्वेषात्मक क्रिया से आकाश प्रदेशों में विद्यमान अनन्तानन्त कर्म के सूक्ष्म पुद्गल चुम्बत्व की तरह आर्कषित होकर आत्म प्रदेशों से संश्लिष्ट हो जाते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं।¹⁵ युवाचार्य महाप्रज्ञ (वर्तमान आचार्य महाप्रज्ञ) लिखते हैं—“अध्यात्म की व्याख्या कर्म-सिद्धान्त के बिना नहीं की जा सकती। इसलिए यह एक महान् सिद्धान्त है। इसकी अतल गहराइयों में डुबकी लगाना उस व्यक्ति के लिए अनिवार्य है जो अध्यात्म के अंतस की उष्मा का स्पर्श चाहता है।”¹⁶

जैन दर्शन में कर्मों के भेद

जिस रूप में कर्म परमाणु आत्मा की विभिन्न शक्तियों के प्रकटन का अवरोध करते हैं, और आत्मा का शरीर से सम्बन्ध स्थापित करते हैं तथा जिन कार्यों से बद्ध जीव संसार भ्रमण करते हैं, वे मूल कर्म आठ हैं।¹⁷

- (1) ज्ञानावरणीय—यह कर्म जीव की अनन्त ज्ञान शक्ति के प्रादुर्भाव को रोकता है।
- (2) दर्शनावरणीय—यह कर्म जीव की अनन्त दर्शन शक्ति को प्रकट नहीं होने देता।
- (3) मोहनीय—यह कर्म आत्मा की सम्यक् श्रद्धा-चारित्र्य को रोकता है।
- (4) अन्तराय—यह कर्म अनन्त वीर्य को प्रगट नहीं होने देता।
- (5) वेदनीय—यह कर्म अनन्त सुख को रोकता है।

(6) आयुष्य—यह कर्म अटल अवगाहन — शाश्वत स्थिरता को नहीं होने देता।

(7) नाम—यह कर्म अमूर्त अवस्था को नहीं होने देता।

(8) गोत्र—यह कर्म अगुरुलघुभाव को रोकता है।

(a) घाति और अघाति कर्म

(1) घाति कर्म — जो कर्म आत्मा के साथ बन्धकर उसके स्वाभाविक गुणों की घात करते हैं उसे घाति कर्म कहते हैं। ये चार कर्म हैं — ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय।¹⁸ घाति कर्म को भी दो भागों में बांटा गया है:—

(i) सर्वघाति कर्म — ये कर्म आत्मा के स्वाभाविक गुणों की पूर्ण घात करते हैं। इनकी कुल 20 उत्तर प्रकृतियों हैं।

(ii) देशघाति कर्म — ये कर्म आत्मा के स्वाभाविक गुणों की आंशिक घात करते हैं। इनकी कुल 25 उत्तर प्रकृतियों हैं।¹⁹

(2) अघाति कर्म — जो कर्म आत्मा के प्रधान गुणों को हानि नहीं पहुंचाते उसे अघाति कर्म कहते हैं। ये चार हैं— वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र।²⁰ इनकी कुल 75 उत्तर प्रकृतियों हैं।²¹ इस प्रकार मूल आठ कर्मों में सर्वघाति की 20 उत्तर प्रकृतियों, देशघाति की 25 उत्तर प्रकृतियों, अघाति की 75 उत्तर प्रकृतियों कुल 120 उत्तर प्रकृतियों अधिकतम उदय में रहती है।

(b) द्रव्य और भाव कर्म

i. द्रव्य कर्म — कर्म वर्गणा के पुद्गल जो मन—वचन काया की प्रवृत्ति द्वारा आकर्षित होकर आत्मा के साथ एकीभूत हो जाते हैं उन्हें द्रव्य कर्म कहते हैं। जैसे मूल आठ कर्म और उनकी 158 उत्तर प्रकृतियों द्रव्य कर्म कहलाते हैं।

ii. भाव कर्म — जो कषाय व राग—द्वेष आत्मा के साथ हर समय जुड़े रहते हैं, उनको भाव कर्म कहते हैं। यह एक प्रकार की मानसिक स्थिति है। कार्य एवं कारण सिद्धांत के अनुरूप द्रव्य एवं भाव कर्म एक दूसरे के पूरक हैं, पूर्ण सम्बन्धित हैं।²²

(c) पुण्य एवं पाप

आयुष्य, वेदनीय, नाम एवं गोत्र चार अघाति कर्मों को दो भागों में बांटा गया है—

i. पुण्य कर्म — जिन कर्मों के परिणाम इन्द्रिय सुख, शारीरिक सुख एवं सांसारिक सुख प्रदान करते हैं उन्हें पुण्य कर्म कहा जाता है जैसे साता वेदनीय, उच्च गोत्र, मनुष्य एवं देव गति तथा नाम कर्म की कुछ उत्तर प्रकृतियों पुण्य कर्म कहलाती हैं। इनकी कुल 42 उत्तर प्रकृतियों हैं।

ii. पाप कर्म — जिन कर्मों के परिणाम इन्द्रिय दुःख, शारीरिक दुःख एवं सांसारिक दुःख प्रदान करने वाले होते हैं उन्हें पाप कर्म कहते हैं। जैसे असातावेदनीय, नीचगोत्र, नरकगति, तिर्यचगति एवं नाम कर्म की कुछ उत्तर प्रकृतियों पाप कर्म कहलाती हैं। इनकी कुल 78 उत्तर प्रकृतियों हैं।

(d) कर्म की उत्तर प्रकृतियों

मूल आठ कर्मों की कुल 158 उत्तर प्रकृतियों हैं:—

1. ज्ञानावरणीय कर्म	:	5 उत्तर प्रकृतियों
2. दर्शनावरणीय कर्म	:	9 उत्तर प्रकृतियों
3. वेदनीय कर्म	:	2 उत्तर प्रकृतियों
4. मोहनीय कर्म	:	28 उत्तर प्रकृतियों
5. आयुष्य कर्म	:	4 उत्तर प्रकृतियों
6. नाम कर्म	:	103 उत्तर प्रकृतियों
7. गोत्र कर्म	:	2 उत्तर प्रकृतियों
8. अंतराय कर्म	:	5 उत्तर प्रकृतियों

158 उत्तर प्रकृतियों

जैन दर्शन में कर्मबन्ध के कारण

(a) कर्म बंध

अनेक पदार्थों का मिलकर एक हो जाना बन्ध कहलाता है। जीव और कर्म के संश्लेष को बंध कहते हैं।²³ जीव अपनी वृत्तियों से कर्म-योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। इन ग्रहण किए हुए कर्म-पुद्गल और जीव प्रदेशों का बंधन या संयोग बन्ध कहलाता है।²⁴ आचार्य अभयदेवसुरि कहते हैं—“बेड़ी का बंधन द्रव्य बंध है और कर्म का बंधन भाव बंध है।²⁵ श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती लिखते हैं:—“जिस चैतन्य परिणाम से कर्म बंधता है वह भाव बंध है तथा कर्म और आत्मा के प्रदेशों का अन्योन्य प्रवेश — एक दूसरे में मिल जाना — एक क्षेत्रावगाही हो जाना द्रव्य-बंध है।²⁶

जीव का कर्म के साथ बंधन कैसे होता है? इस विषय में गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा—

गौतम — “भगवन् ! जीव कर्म-बंध कैसे करता है?”

भगवान — गौतम! ज्ञानावरण के तीव्र उदय से दर्शनावरण का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरण के तीव्र उदय से दर्शन-मोह का तीव्र उदय होता है। दर्शन-मोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है। मिथ्यात्व के उदय से जीव के आठ प्रकार के कर्मों का बंध होता है।²⁷ कर्मबंध का हेतु है कषाय। संक्षेप में कषाय के दो भेद हैं—(1)राग और (2) द्वेष। विस्तार में इसके चार भेद हैं— (1) क्रोध (2) मान (3) माया (4) लोभ। राग से माया और लोभ उत्पन्न होते हैं और द्वेष से क्रोध और मान उत्पन्न होते हैं।²⁸

(b) बन्ध की प्रक्रिया

आत्मा में अनन्त वीर्य है। उसे लब्धि-वीर्य कहा जाता है। यह शुद्ध आत्मिक सामर्थ्य है। इसका बाह्य जगत् में कोई प्रयोग नहीं होता। आत्मा का बहिर्-जगत् के साथ जो सम्बन्ध है, उसका माध्यम शरीर है। वह पुद्गल परमाणुओं का संगठित पुंज है। आत्मा और शरीर—इन दोनों के संयोग से जो सामर्थ्य पैदा होती है, उसे करण वीर्य या क्रियात्मक शक्ति कहते हैं। शरीरधारी जीव में यह सतत् बनी रहती है। इसके द्वारा जीव में भावनात्मक या चैतन्यप्रेरित क्रियात्मक कम्पन्न होता रहता है। कम्पन्न अचेतन वस्तुओं में भी होता है किन्तु वह स्वाभाविक होता है। उसमें चैतन्य प्रेरित कम्पन्न नहीं होता। चेतन में कम्पन्न का प्रेरक गूढ चैतन्य होता है। इसलिए इसके द्वारा विशेष स्थिति का निर्माण होता है। शरीर की आन्तरिक वर्गणा द्वारा निर्मित कम्पन्न में बाहरी पौद्गलिक धाराएं मिलकर आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा परिवर्तन करती रहती है। क्रियात्मक शक्ति जनित कम्पन्न के द्वारा आत्मा और कर्म परमाणुओं का संयोग होता है। इस प्रक्रिया को आश्रव कहा जाता है।²⁹

आत्मा के साथ संयुक्त कर्मयोग्य परमाणु कर्म के रूप में परिवर्तित होते हैं। इस प्रक्रिया को बन्ध कहा जाता है। आत्मा और कर्म परमाणुओं का फिर वियोग होता है। इस प्रक्रिया को निर्जरा कहा जाता है। बंध, आश्रव और निर्जरा के बीच की स्थिति है। कर्म परमाणुओं के शरीर में आने और चले जाने के बीच की दशा को संक्षेप में बंध कहा जाता है। शुभ और अशुभ परिणाम आत्मा की क्रियात्मक शक्ति के प्रवाह हैं। ये अजस्र बहते रहते हैं। दोनों एक साथ नहीं, दोनों में से एक अवश्य रहता है। कर्मशास्त्र की भाषा में शरीर नाम कर्म के उदयकाल में चंचलता रहती है। उसके द्वारा परमाणुओं का आकर्षण होता है। शुभ परिणति के समय शुभ और अशुभ परिणति के समय अशुभ कर्म परमाणुओं का आकर्षण होता है।³⁰

(c) कर्म बंध का कारण आश्रव — कर्म बंध का कारण है आश्रव। जिससे कर्म आवे वह आश्रव है। आश्रव अथवा कर्मों का आना मात्र आश्रव है।³¹ जीव की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों या क्रियाएं ही आश्रव हैं। मन, वचन और कार्य की क्रिया योग है, वही आश्रव है।³² पुण्य-पाप रूप कर्मों के आगमन द्वार को आश्रव कहते हैं, जैसे—नदियों से समुद्र प्रतिदिन

जल से भर जाता है, वैसे ही मिथ्यादर्शन आदि श्रोतों से आत्मा में कर्म आते हैं।³³ आचार्य कुंदकुंद के मतानुसार आश्रव के चार भेद हैं।³⁴ (1) मिथ्यात्व (2) अविरति (3) कषाय (4) योग आचार्य विनयविजयजी ने भी आचार्य कुंदकुंद का वर्गीकरण स्वीकार किया है और चार ही आश्रव माने हैं।³⁵ ठाणांग³⁶ एवं समवायांग³⁷ के अनुसार – आश्रव के पांच भेद कहे गये हैं—

(1) मिथ्यात्व (2) अविरति (3) प्रमाद (4) कषाय (5) योग। वाचक उमास्वाति ने इन पांच आश्रवों—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को ही बंध का हेतु कहा है।³⁸

जैन दर्शन में कर्म निर्जरा

उत्तराध्ययन में कहा गया है—

जहामहातलायरस सन्तिरुद्धे जलागमे, उस्सिचणाए तवं णाए कमेणं सोसणा भवे।

‘एवं तु’ संजयस्सावि पावकम्मनिएसवे, भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जई।।³⁹

‘जिस प्रकार कोई बड़ा तालाब जल आने के मार्ग का विरोध करने से, जल को उलीचने से, सूर्य के ताप से क्रमशः सूख जाता है उसी प्रकार संयमी पुरुष के पाप—कर्म आने के मार्ग का निरोध होने से करोड़ों भवों के संचित कर्म तपस्या के द्वारा निर्जीर्ण हो जाते हैं।’ कर्मों के झड़ने का नाम निर्जरा है।⁴⁰ पूर्व बद्ध कर्मों का झड़ना निर्जरा है।⁴¹ एक देश रूप से कर्मों का जुदा होना निर्जरा है।⁴² जिनसे कर्म झड़े (ऐसे जीव के परिणाम) अथवा जो कर्म झड़े वह निर्जरा है।⁴³ जिस प्रकार मंत्र या ओषध आदि से निःशक्ति किया हुआ विष, दोष उत्पन्न नहीं करता, उसी प्रकार तप—आदि से नीरस किए और निःशक्ति हुए कर्म संसार चक्र को नहीं चला सकते।⁴⁴ तथा काल या तपोविशेष से कर्मों की फलदान शक्ति को नष्ट कर उन्हें झाड़ देना निर्जरा है। बंधे हुए कर्म उदय में आते हैं।⁴⁵ इससे क्षुधा, तृणा, शीत, ताप आदि नाना प्रकार के कष्ट जीव के उत्पन्न होते हैं। वैसे ही सुख भी उत्पन्न होते हैं। सुख—दुःख रूप विविध प्रकार के फल दे चुकने के बाद कर्म पुद्गल आत्मप्रदेशों से स्वतः निर्जीर्ण होते हैं, यह कर्म योग्य निर्जरा है।

(a) निर्जरा के प्रकार

बाह्य तप – बाह्य तप के छः प्रकार हैं –

(1) अनशन (2) उनोदरी (3) वृत्ति—संक्षेप (4) रस—परित्याग (5) काय—क्लेश (6) प्रतिसंलीनता⁴⁶ आभायान्तर तप— आभायान्तर तप के छः प्रकार हैं—

(1) प्रायश्चित्त (2) विनय (3) वैयावृत्य (4) स्वाध्याय (5) ध्यान (6) व्युत्सर्ग⁴⁷

प्राणियों में भेद के कारण

मनुष्य के मन में एक प्रश्न उठा—सब मनुष्य समान क्यों नहीं? सारे मनुष्य मनुष्य हैं, वे एक जैसे क्यों नहीं हैं? उनकी आकृति में भेद है, प्रकृति में अन्तर है, विचार और भावनाओं में अन्तर है। यह भेद कौन कर रहा है? कौन ऐसा विधाता है जो भाग्य की लिपि लिख रहा है और सबको अलग—अलग साँचे में ढाल रहा है। क्या कोई एक ऐसा साँचा नहीं जिसमें सब समान रूप से ढल जायें? क्या ऐसा साँचा किसी ने नहीं बनाया? क्यों नहीं बनाया? जब इसका कारण खोजा गया, तब भेद की बात समझ में आई।

i. भेद का कारण—वंशानुक्रम

हम भेद के कारणों पर विमर्श करें। आज के वैज्ञानिकों ने भेद का एक कारण खोजा—हेरिडीटी –वंशानुक्रम। यह भेद का एक कारण बनता है। प्राचीन समय में भी यह बात खोज ली गई थी। आयुर्वेद में पैतृक गुणों की बात उपलब्ध होती है। पैतृक गुण—माता पिता के गुण संतान में संक्रान्त होते हैं। भगवती और स्थानांग सूत्र⁴⁸ में मिलता है—संतान को तीन तत्व पिता से मिलते हैं और तीन तत्व माता से मिलते हैं। अस्थि, अस्थिमज्जा, केश—रोम एवं नख ये अंग पिता से मिलते हैं। तीन तत्व माता से मिलते हैं—मांस, शोणित और मातुलिंग—भेजा। माता और पिता के गुण या अंग पुत्र में संक्रान्त होते हैं, इसका नाम है वंशानुक्रम। वंशानुक्रम का उल्लेख आयुर्वेद और जैन आगम दोनों में प्राप्त है। आज विज्ञान की पूरी शाखा बन गई—वंशानुक्रम।

हम सूक्ष्म जगत को देखें। स्थूल दृष्टि से यह बात समझ में नहीं आती। हमारा शरीर कोशिकाओं के द्वारा बना है। कोशिकाओं ने हमारे शरीर का निर्माण किया। एक कोशिका, एक सेल कितना छोटा होता है। विज्ञान कहता है—एक पिन की नोक टिके इतने भाग में लाखों—लाखों कोशिकाएं समा जाती हैं। इतनी छोटी कोशिकाओं में जीवन—रस है। उस जीवन—रस में जीव केन्द्र है। न्यूक्लीयस जीव—केन्द्र है। जीव केन्द्र में क्रोमोसोम—गुण सूत्र है। उनमें जीन है, संस्कार सूत्र है। उस जीन में माता पिता के संस्कार संचित है, अनेक पीढ़ियों के संस्कार संचित है। वे जीन पैतृक संस्कारों के वाहक होते हैं। एक जीन जो बहुत छोटा होता है, उस जीन—संस्कार सूत्र में साठ लाख संस्कार लिखे रहते हैं। मारवाड़ी का प्रसिद्ध दोहा है—

बाप जिसो बेटो, छाली जिसो ठेठो।

घड़े जिसी ठीकरी, माँ जिसी डीकरी।।

इस छोटे से श्लोक में वंशानुक्रम की पूरी सच्चाई, पूरा विज्ञान भरा हुआ है।

ii. भेद का कारण वातावरण

आज कर्म को व्यापक संदर्भ में समझना आवश्यक है। वर्तमान के वैज्ञानिकों ने जीवन का बहुत विश्लेषण किया, व्यक्तित्व का बहुत विश्लेषण किया। किन्तु वे अभी तक जीवन की अनेक गुत्थियों को सुलझाने में सफल नहीं हुए हैं। मनोविज्ञान के अनुसार जीवन की व्याख्या का एक कोण है— वातावरण, पर्यावरण या परिस्थिति। व्यक्तित्व विकास का एक आधार है परिस्थिति। एक बच्चे को जैसा परिवेश मिला जैसी परिस्थिति मिली वह वैसा ही बन गया। यदि वह बुरे वातावरण में रहेगा तो बुरा बन जायेगा। यह एक आम धारणा है और बहुत पुरानी धारणा है। दो तोतों वाली कथा प्रसिद्ध है। एक तोता सन्यासी के पास रहा, अच्छा बन गया। एक तोता चोर के पास रहा, बुरा बन गया। दोनों के मां बाप एक थे किन्तु दोनों को भिन्न—भिन्न परिवेश मिला और उनका व्यवहार भिन्न—भिन्न हो गया। किसी व्यक्ति को आते देखकर एक तोता बोलता है—स्वागतम्! स्वागतम्! आओ! बैठो! स्वागत है! स्वागत है! और दूसरा तोता बोलता है—आओ! आओ! मारो! लूटो!

iii. भेद का कारण कर्म

वंशानुक्रम भेद का कारण है। इसी आधार पर जेनेटिक इंजीनियरिंग का विकास हुआ है। आज के वैज्ञानिक इस खोज में लगे हुए हैं—प्रारंभ से ही जीन को बदल दिया जाय, जिससे व्यक्ति बदल जाय। प्रश्न होता है—यदि भेद का कारण वंशानुक्रम है तो दो सगे भाइयों में भेद क्यों होता है? इस प्रश्न के समाधान के लिए जीन से भी आगे जाना होगा, और सूक्ष्म की खोज में जाना होगा। जीन से आगे जाने पर पता चलता है—भेद करने वाला एक तत्व हमारे भीतर बैठा है। यह जीन से भी ज्यादा सूक्ष्म है। वह है कर्म शरीर। एक है हमारा स्थूल शरीर—औदारिक शरीर। उससे आगे है—सूक्ष्म शरीर — तैजस शरीर। उससे भी सूक्ष्म है—सूक्ष्मतर शरीर—कर्म शरीर। कर्म शरीर तक पहुंचने पर हमें इस प्रश्न का समाधान प्राप्त होता है। यह भेद करने वाला हमारे भाग्य का विधाता भीतर बैठा है। वही हमारे भाग्य की लिपि लिख रहा है।

व्यक्ति व्यक्ति में भेद का प्रश्न बहुत पुराना है। गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा — भंते! यह भेद क्यों दिखाई दे रहा है? प्रत्येक व्यक्ति में भेद है। इसका कारण क्या है? भगवान् महावीर ने कहा—कम्मओ णं विभतीभावं जणयई — **भेद का कारण है कर्म**। सारी विभक्तियों, विभिन्नताएं कर्म के कारण हो रही हैं। व्याकरण में सात विभक्ति होती हैं। कर्म के द्वारा न जाने कितनी विभक्तियों भेद की रेखाएं खींची जा रही हैं। कर्म या कर्म शरीर आत्मा के सबसे ज्यादा निकट है और यही आत्मा को संसार के चक्र में फंसाए हुए है। इटली का एक प्रसिद्ध कवि हुआ है— तारक्वोटोतासो। वह एक बार फ्रांस के राजा चार्ल्स नवम के दरबार में गया। राजा ने पूछा—कविवर! दुनियां में सबसे सुखी कौन? कवि ने उत्तर दिया—ईश्वर। राजा बोला—ईश्वर तो हमारे काम का नहीं है। दूसरे नम्बर का सुखी कौन? कवि बोला जो ईश्वर के निकट है। ईश्वर के निकट है कर्म। निकट होना अलग बात है और आत्मीय होना अलग बात है। आत्मा के निकट कर्म होते हैं किन्तु वे कभी तद्रूप नहीं बनते, आत्मीय नहीं बनते। वे सदा आत्मा से अलग रहते हैं, पृथक रहते हैं। आत्मा का पहला घेरा है कर्म और वह उसे प्रभावित कर रहा है।

जैन दर्शन के कर्मवाद की सामाजिक उपयोगिता

मनुष्य के बनने बिगड़ने में संगत का प्रभाव पड़ता है, वातावरण का प्रभाव पड़ता है। पुराना शब्द है सत्संग और कुसंग। आधुनिक वाक्य है – वातावरण, परिवेश और पर्यावरण। यह जीवन की व्याख्या का एक आधार है। जीवन की व्याख्या का दूसरा आधार है— वंशानुक्रम। इसके द्वारा बहुत सारे प्रश्नों को समाहित किया गया है किन्तु अनेक प्रश्न आज भी अनुत्तरित बने हुए हैं। ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिनका मनोविज्ञान के पास कोई उत्तर नहीं है। शरीर विज्ञान के संदर्भ में उनके समाधान कर्म विज्ञान में है। कठिनाई यह है – कर्म विज्ञान धार्मिक लोगों के पास है, साइकोलोजी और हेरिडीटी का विज्ञान वैज्ञानिकों के पास है। वैज्ञानिकों में यह क्षमता है कि अपनी बात आत्म-विश्वास के साथ प्रस्तुत करते हैं और उसे लोगों के हृदय में उतार देते हैं। अध्यात्म के लोग इस मामले में कुछ सुस्त हैं इसीलिए कर्म विज्ञान जैसा महत्वपूर्ण सिद्धांत आज भी आगम्य और आमन्य सा बना हुआ है।

जैन दर्शन के कर्म विज्ञान में जो गहराइयां हैं, उसके सामने मनोविज्ञान बौना बना हुआ है। परिस्थिति विज्ञान उसके सामने कुछ भी नहीं है। किन्तु समस्या यह है – कर्म विज्ञान को जिस रूप में प्रस्तुत करना चाहिए उसका वह रूप प्रस्तुत नहीं हो पाया है। आज कुछ ऐसा हो गया है – एक छोटा आदमी को आकाश को छू रहा है और एक विशाल और विशिष्ट व्यक्ति नीचे खड़ा हुआ उसे टुकुर टुकुर देख रहा है। कर्म विज्ञान आज इस स्थिति से गुजर रहा है। कर्म विज्ञान एक महत्वपूर्ण विज्ञान है। इसके द्वारा हम अपने समग्र जीवन की व्याख्या कर सकते हैं। हमारे सामने अनेक प्रश्न हैं— एक व्यक्ति लम्बा क्यों बना? एक व्यक्ति नाटा क्यों रह गया? एक शरीर वैज्ञानिक कहेगा ग्रन्थियों के श्राव असंतुलित है इसलिए ऐसा हो गया। एक आदमी का गला अच्छा है, उसके स्वरों में मधुरता है। एक व्यक्ति के स्वर मधुर नहीं होते, ऐसा क्यों होता है? एक व्यक्ति ऐसा है, जिसका वचन आदेय होता है। उसकी बात को कोई नहीं टाल सकता। उसका कोई भी कार्य अधूरा नहीं रहता। एक व्यक्ति के कथन को कोई सम्मान नहीं मिलता। कोई भी व्यक्ति उसकी बात को स्वीकार नहीं करता। दो व्यक्तियों में अंतर क्यों? इन प्रश्नों का समाधान न शरीर विज्ञान के पास है, न मनोविज्ञान के पास है। इन सारे प्रश्नों को जैन दर्शन के को कर्म-शास्त्र के संदर्भ में समाहित किया जा सकता है। एक कर्म है नाम कर्म। वह इन सारे भेदों के लिए जिम्मेवार होता है। कर्मशास्त्र में नाम कर्म की तुलना चित्रकार के साथ की गई। जैसे चित्रकार अनेक प्रकार के चित्र बनाता है, नाना रूपों की सृष्टि करता है वैसे ही नामकर्म के कारण व्यक्तित्व के अनेक रूप बन जाते हैं।

(a) जीवन से जुड़ा है कर्म

हर समस्या का समाधान जैन दर्शन के कर्म शास्त्र में उपलब्ध है। चाहे शरीर की व्याख्या का प्रश्न है, इन्द्रियों की व्याख्या का प्रश्न है, मन की व्याख्या का प्रश्न है, चेतन की व्याख्या का प्रश्न है, निरंतर उतरते चढते भावों का प्रश्न है— कर्मशास्त्र में उनके समाधान सूत्र उपलब्ध हैं। जीवन के प्रत्येक क्षण की व्याख्या के साथ कर्म जुड़ा हुआ है। कर्म हमारे जीवन को इतना प्रभावित करता है फिर भी उसके बारे में हमारी जानकारी नहीं है। जो जीवन से जुड़ा हुआ है, वह कैसे बंधता है, इस बारे में हम कभी सोचते ही नहीं हैं। यह सचमुच आश्चर्य की बात है। हम प्रवृत्ति करते चले जाते हैं किन्तु यह नहीं सोचते हम अपने आपको क्यों बांध रहे हैं?

मकड़ी जाल बुनती चली जाती है और वह स्वयं ही उसमें फंसती चली जाती है। रेशम का कीड़ा अपनी मोत के लिए स्वयं कोष बनाता है। यदि वह अपने लिए कोष न बनाए तो उसे अकाल मौत से मरना न पड़े, उसे गरम-गरम पानी में उबलना न पड़े। आज कस्तूरी मृग बहुत मारे जा रहे हैं। यदि कस्तूरी मृग अपने लिए नाभी न बनाते तो शायद उनकी इतनी हत्याएं नहीं होती। आज कुछ ऐसा ही हो रहा है। आदमी कर्म के रहस्यों को जाने बिना इस प्रकार का आचरण करता जा रहा है और स्वयं को बांधने के लिए जाल बुनता चला जा रहा है। किसी व्यक्ति को फंसाने के लिए दूसरा आदमी एकाध बार भी जाल फैलाता है तो व्यक्ति क्रुद्ध हो

जाता है। वही व्यक्ति स्वयं अपने लिए दिन-रात जाल बिछाता जा रहा है। वह इस बारे में कभी सोचता ही नहीं है। और इसीलिए वह समस्याओं के समाधान में सफल नहीं हो पा रहा है।

(b) कर्मवाद को समझने के परिणाम

जैन दर्शन में कर्मवाद का जितना वैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है उतना किसी अन्य दर्शन में प्राप्त नहीं है। यह एक सच्चाई है, जिसे कोई भी व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता। जैन आचार्यों ने कर्मवाद के द्वारा जिस प्रकार जीवन के रहस्यों को उद्घाटित किया है, जीवन की ग्रन्थियों का विमोचन किया है, वह बहुत महत्वपूर्ण है। यदि इसे समझने का प्रयत्न करें, उसे वैज्ञानिक स्तर पर प्रस्तुति दें तो जैन धर्म के इस महान् सिद्धांत को व्यापक स्वरूप मिल जाय। जैन दर्शन को कुछ सिद्धांत विरासत में मिले हैं—अहिंसावाद, अनेकांतवाद और अपरिग्रहवाद। जैन दर्शन के कर्मवाद, आत्मवाद आदि कुछ ऐसे सिद्धांत और हैं, जो अपनी मौलिक विशेषता रखते हैं। कर्मवाद की गहराइयों में जाकर ही हम अपने आपको समझ सकते हैं, अपने जीवन की समस्त घटनाओं के साथ ताल-मेल बिठा सकते हैं। कर्मवाद को समझने का अर्थ है—उज्ज्वल भविष्य के निर्माण का पथ प्रशस्त करना।

सलाहकार,
जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय,
लाडनूँ (राजस्थान)

संदर्भ सूची—

¹ ब्रह्म सूत्र, शंकर भाष्य 2.1.14

² (क) सांख्यकारिका (ख) सांख्य तत्व कौमुदी

³ (क) योग दर्शन (व्यास भाष्य) 1.5, 2.12, 2.13, 2.3 (ख) योग दर्शन भास्वती तथा तत्ववैशारदी

⁴ (क) न्याय भाष्य 1.1.2, (ख) न्याय सूत्र 1.117, 4.1, 3.9 (ग) न्याय मंजरी पृ. 471

⁵ अभिधर्म कोष, परिच्छेद 4

⁶ न्याय मंजरी पृ. 472

⁷ (क) मीमांसा सूत्र, शाबर भाष्य 2.1.5 (ख) शास्त्र दीपिका 2.1.5 पृ.80

⁸ शास्त्र वार्ता समुच्चय 107, दशवैकालिक 4.20

⁹ ऋग्वेद 1.48.2

¹⁰ आत्म-मीमांसा-पं. दलसुख मालवणिया

¹¹ मनुस्मृति

¹² (क) गीता रहस्य पृ. 55-56 (ख) भगवद् गीता अ 5, 8-11

¹³ कर्म विपाक (कर्म ग्रन्थ प्रथम), 1

¹⁴ दर्शन और चिंतन - पंडित सुखलालजी पृ.225

¹⁵ परमात्म प्रकाश, 1.62

¹⁶ कर्मवाद-युवाचार्य महाप्रज्ञ(वर्तमान आचार्य महाप्रज्ञ)

¹⁷ उत्तराध्ययन 33.1.3, ठाणं 8.3.596, प्रज्ञापना 23.1

¹⁸ गोम्मटसार (कर्म काण्ड), 9

¹⁹ कर्म ग्रन्थ 2

²⁰ उत्तराध्ययन 33.13-14

²¹ नंदी सूत्र 2

²² अष्टासहस्री एन.एस.प्रेस, बम्बई 1915 पृ.51

²³ उत्तराध्ययन 28.14, नेमिचन्द्रिय टीका :-“बन्धश्च जीव कर्मणो : संश्लेषः

²⁴ ठाणांग , 1.4.9 की टीका (क) बन्धनं बंधः सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते यत् स बन्ध इति भावः। (ख) ननुबन्धो जीव कर्मणोः संयोगोऽभिप्रेतः।

²⁵ ठाणांग 1.4.9 टीका, द्रव्यतो बन्धो निगऽभिर्भावतः कर्मणा।

²⁶ द्रव्यसंग्रह 2.32 : बज्जदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबन्धो सो, कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो।

²⁷ प्रज्ञापना 23.1.289

²⁸ ठाणांग , 2. 4. 96 टीका-माया लोभ कषायश्चेत्येतद् रागसंज्ञित्वं द्वन्द्वम्। क्रोधेमानश्च पुनर्द्वेष इति समास निर्दिष्टतः।

- ²⁹ (क) भगवती 8.429-430 (ख) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा 81: मणवयका जोया जीवपयेसाण फंदण-रिसेसा मोहोदएणाजुत्ता विजुदा विये आसवा होतिं।
- ³⁰ प्रज्ञापना , 23.1.292 : जैन दर्शन मनन और मीमांसा-आचार्य महाप्रज्ञ पृ. 309
- ³¹ राजवार्तिक 1.4.9 : आश्रवत्यनेन आश्रवण मात्र वा आश्रवः।
- ³² तत्वार्थ सूत्र 6.1 - 2: कायवाड् मनः कर्म योगः । स आश्रवः॥
- ³³ राजवार्तिक, 1.4.16, पुण्यपापागम द्वार लक्षण आश्रवः यथा महोद् छे: सलिलमापगामुखैरहरहापूर्यते तथा मिथ्यादर्शनादि द्वारा नुप्रविष्टैः कर्मभिर, निशमात्मा समापूर्यत इति 6.2.4
- ³⁴ समयसार 4.164-165 : मिच्छत्तं अविरमंण कसायजोगा य सण्णसण्णादु, बहुतिय भेया जीवं तस्सेव अणण्ण परिणामा॥ पाणावरणादीयसस ते दु कम्मस्स कारणं होति, तेसिंपि होदि जीवो य राग दोसादि भाव करो॥
- ³⁵ शान्त सुधारस, आश्रव भावना, आचार्य विनयविजय-मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगसंज्ञा श्चत्वार सुकृतिमिराभवाः प्रदिष्टाः
- ³⁶ टापांग 5.109 : पंच आसवदारा पण्णत्ता, तं जहा, मिच्छत्तं, अविरई, पमादो, कसाया जोगा
- ³⁷ समवायांग, 5 : वही
- ³⁸ तत्वार्थ 8.1, मिथ्यादर्शनाविरति प्रमाद कषाय योगा बन्धहेतवः।
- ³⁹ उत्तराध्ययन (उत्तरझयणं 30.5-6)
- ⁴⁰ जैनेन्द्र सिद्धांत कोष (भाग 2) पृ.621
- ⁴¹ भगवती आराधना 1847, पृ.1659 : पुव्वकदकम्मसउणं त निज्जरा।
- ⁴² (क) सर्वार्थ सिद्धि 1.4. 14. एक देश कर्मसंक्षय लक्षणा निर्जरा (ख) राजवार्तिक 1.4.19 (ग) द्रव्य संग्रह टीका, 28.85 (घ) पंचास्तिकाय, 144.206
- ⁴³ राजवार्तिक 1, 4.12.27 निजीयंते निरस्यते यथा निरसनं मात्रं वा निर्जरा।
- ⁴⁴ राजवार्तिक 1, 4.19.27 यथा मन्त्रौषधवलान्निर्जीर्णवीर्यविपाकं विषं न दोषप्रदं तथा तपो विशेषेण निर्जीर्णरसं कर्म न संसार फलप्रदम्।
- ⁴⁵ तत्वार्थ, भाष्य, 8. 22, 8.24 : सर्वासां प्रकृतिनां फलं विपाकोदयोणुभावो भवति। विविध पाको विपाकः ततश्चानुभात्कर्म निर्जरा भवतीति।
- ⁴⁶ सूत्र 9.19 : अनशनावन्नौदर्यं वृत्ति परिसंख्यान रस परित्याग विविक्तश्रूयासन कायक्लेशा बाह्यं तपः।
- ⁴⁷ तत्वार्थसूत्र 9.20 प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्य - स्वाध्याय व्युत्सर्गध्यानान्मुत्तरम्।
- ⁴⁸ भगवती , स्थानांग सूत्र।